

“केरल में जन्म लेकर, आठवें वर्ष में संन्यास लेकर, सोलहवें वर्ष में सकल शास्त्रों का अध्ययन करके, दस उपनिषदों, ब्रह्मसूत्रों और भगवद्गीता पर भाष्य रचकर शंकरभगवत्पाद आचार्य अब तीस वर्ष के हो चुके हैं। भगवान् गौडपादाचार्य की प्रेरणा से सर्वज्ञपीठ पर आरूढ़ होने के लिये वे अब श्रीनगर आये हैं। इस समय कोई भी ऐसा विद्वान् नहीं है जो उनके साथ वाद करने में समर्थ हो और हमारा विश्वास है कि आगे भी ऐसा विद्वान् पैदा नहीं होगा। फिर भी, अगर कश्मीर में ऐसा कोई हो तो वह शीघ्र यहाँ आ जाये। शंकराचार्य उनका सामना करने के लिये तैयार हैं।”

इस पत्र को पढ़कर क्षुब्ध हुये कश्मीर के विद्वान् अपने-अपने शिष्यों की सेना के साथ निश्चित समय पर शारदामन्दिर पहुँच गये। अहो! उनके वस्त्र कितने शानदार थे। उनके हीरे-जवाहरतों से जड़ित आभूषण, उनकी रंग-बिरंगी पगड़ियाँ, तिलक और उच्च-स्वर में हँसी, इन सबका क्या कहना! अपने-अपने कमरों की खिड़कियों से उनको देखकर शंकर, पृथ्वीधर और तोटक केवल धीरे से मुस्करा भर दिये।

अगले दिन बाद आरम्भ हुआ। पहले आया एक बौद्ध। उसने शंकर से पूछा, “मैं बौद्ध हूँ। अगर आप सर्वज्ञ हैं तो मेरा सिद्धान्त क्या है बताइये।”

“पहले तो यह बताओ कि क्या आप सर्वास्तित्ववादी हैं? या विज्ञानवादी हैं? या शून्यवादी हैं? यदि आप शून्यवादी हैं तो आप यहाँ आये ही नहीं हैं, मेरे साथ बात ही नहीं कर रहे हैं, यहाँ सर्वज्ञपीठ है ही नहीं, सब शून्य है। अतः, आपके साथ बात करने का कोई प्रयोजन ही नहीं है। अतः आप कौन हैं पहले यह बताइये।”

“मैं शून्यवादी नहीं हूँ। सर्वास्तित्ववादी हूँ।

“आपका सिद्धान्त पृथ्वी आदि चार परमाणुओं से उत्पन्न हुये जगत् का अस्तित्व बताता है, जिसे आप भूत कहते हैं। कारुणरूप परमाणुओं और अहंकार को आप भौतिक बताते हैं। इन दोनों के मिलने से सब अध्यात्मिक व्यवहार चलते हैं यह आपका सिद्धान्त है। यह ठीक नहीं है। क्योंकि परमाणु अचेतन हैं। वे शरीर नहीं बना सकते। शरीर के बिना अहंकारादि काम नहीं करते।”

“कार्य करते हैं ऐसा मैं कहता हूँ। बीज से क्रमशः अंकुर, पत्ते, तना, शाखा, पत्र, पुष्प और फल होते हैं। यह सब अचेतन ही हैं। उसी प्रकार, अविद्या, संस्कार, विज्ञान, जगत्, शरीर, ज्ञान, दुःख, इनमें एक-एक से आगे वाला पैदा होता है।”

“आपने जो कार्य और कारण का सम्बन्ध बताया है वह स्वीकार नहीं किया जा सकता, क्योंकि आप क्षणभंगवादी हैं। अतः, पूर्व और उत्तर क्षणों में हेतु और फल का भाव सिद्ध नहीं किया जा सकता। तब तुम्हारी प्रतिज्ञा कि जगत् हेतुओं से उत्पन्न हुआ है, निरस्त हो जाती है। आप यह भी कहते हैं कि कारण के नाश के बिना कार्य की उत्पत्ति नहीं होती। आप इस विषय में दृष्टान्त देते हैं कि आम के बीज के नाश से आम का पौधा उत्पन्न होता है। आम के बीज का नाश और इमली के बीज का नाश, इन दोनों में कोई अन्तर नहीं है। दोनों अभाव ही हैं। ऐसी दशा में इमली के बीज के नाश से आम का पौधा भी उत्पन्न हो सकता है। क्यों उत्पन्न नहीं होता यह आप बताओ, वरना यहाँ से लौट जाओ”, शंकर ने गर्जना की।

वह अपनी पगड़ी हाथ में लेकर तुरन्त वापिस लौट गया। उसके बाद जो आया उसने अपने आपको विज्ञानवादी बताया।

“आपका सिद्धान्त क्या है यह आप बताएँगे या मैं बताऊँ?” शंकर ने कहा।

सर्वास्तित्ववादी की पराजय वह देख चुका था, इसलिये उसने विनय से कहा, “मैं ही बताता हूँ, बाद में आप मुझसे प्रश्न पूछ सकते हैं। सर्वास्तित्ववाद बुद्ध का सिद्धान्त नहीं है। उन्होंने जो कहा था वह विज्ञानवाद था। विज्ञानवाद में विषय का आकार विषय के ज्ञान के अन्तर्गत होता है। अतः, विषय के ज्ञान से भिन्न एक विषय होता है यह कहने की आवश्यकता नहीं है। तो अलग-अलग ज्ञान होने का क्या कारण है? यदि ऐसा पूछा जाये तो उत्तर है कि अनादि काल से मन में सोयी हुयी विभिन्न वासनाएँ ही उसका कारण हैं।”

“आपका सिद्धान्त ठीक नहीं है। विषयज्ञान में विषय का आकार निहित होने पर भी विषय विषयज्ञान में निहित नहीं है। विषय, विषयज्ञान से

अलग बाहर होता है। कैसे देखो; आपको दिखायी देने वाला घड़ा यदि आपके घड़े के ज्ञान से भिन्न नहीं है तो आपके पास बैठे अन्धे को घड़े का ज्ञान कैसे होगा बोलो।”

“स्पर्श से होगा।”

“तब तो बाहर विद्यमान घड़े के रूपज्ञान के लिये आँखें प्रमाण हैं और घड़े के स्पर्शज्ञान के लिये त्वचा प्रमाण है, ऐसा हो जायेगा। इस प्रकार स्पष्ट है कि एक ही वस्तु में अनेक लक्षण होते हैं, और एक-एक लक्षण के लिये एक-एक प्रमाण चाहिये। इस प्रकार प्रमाण के द्वारा ही प्रमेय का ज्ञान होता है तो प्रमेय का ज्ञान और प्रमेय एक ही कैसे हो सकते हैं? नहीं हो सकते।”

“स्वप्न में प्रमेय के बिना ज्ञान होता है न?”

“ऐसा नहीं। स्वप्न में प्रमेय बुद्धि के अनुसार होता है। जागृत अवस्था में बुद्धि प्रमेय के अनुसार होती है। अतः, स्वप्न के सादृश्य को स्वीकार करके जागृत अवस्था के विषय का निराकरण नहीं कर सकते। स्वप्न में देखा हुआ मित्र जागृत में मृत हो सकता है, स्वप्न में मृत जागृत में जीवित हो सकता है। और एक विचारः स्वप्न में वासनाओं को देखने वाला वासनाओं से अलग ही होता है। वासनावस्तु और उसके सदृश जागृत की पारमार्थिक वस्तु का विभाग करके जानने वाले ज्ञाता को तो नित्य ही होना पड़ेगा। आप क्षणभंगवादियों को तो नित्य ज्ञाता ही नहीं है न। यह आपके सिद्धान्त में पाये जाने वाला महान् दोष है।”

यह सुनकर विज्ञानवादी असमंजस में पड़ गया। वह सोचने लगा, “मेरे पूर्वजों ने जैसा किया वैसा न करके मैं विवेक से बौद्धधर्म को छोड़कर वैदिकधर्म में दुबारा प्रवेश करके भारत में ही रहूँ या आग्रहपूर्वक उसी को पकड़े रहकर भारत से बाहर चले जाऊँ?” उस बौद्ध को उस समय वहाँ से जाते हुए तो सबने देखा; परन्तु इसके बाद वह कहाँ गया, कोई नहीं जानता। बौद्ध विद्वानों के पराभव का समाचार शहर के आसपास के गाँवों तक में फैल गया। लोगों के समूह के समूह वहाँ उमड़ने लगे। प्राँगण पूरा भर गया। लोगों को वाद समझ आ रहा हो या नहीं, परन्तु वादियों के लौटने पर जोर-जोर से तालियाँ अवश्य बज उठती थीं!

उसके बाद आया जैन। उस मत में जीव, अजीव इत्यादि पदार्थ होते हैं। वे सब सप्त भङ्गीनय नामक न्याय का अनुसरण करते हैं। ये सात हैं— स्यादस्ति, स्यान्नास्ति, स्यादस्ति च नास्ति, स्यादव्यक्तः, स्यादस्ति च वक्तव्यश्च, स्यान्नास्ति च वक्तव्यश्च, स्यादस्ति च नास्ति च अवक्तव्यश्च। उस पण्डित से शंकर ने पूछा, “एक ही विषय में एक ही समय ‘है’ (अस्ति) और ‘नहीं है’ (नास्ति) इस प्रकार दो विरुद्ध धर्म नहीं रह सकते। ऐसा होने पर तो वह संशयज्ञान होगा, सम्यग्ज्ञान नहीं। उसी प्रकार ‘वक्तव्यः’ और ‘अवक्तव्यः’ भी परस्पर विरुद्ध हैं। इतना ही नहीं, आपके सिद्धान्त में जीव शरीर के परिमाण वाला है। वह भी ठीक नहीं है, क्योंकि तब जीव भी घट के समान अनित्य हो जायेगा।”

वह चुप हो गया। उसके बाद पाशुपत आया। उनके मत में ईश्वर जगत् का निमित्तमात्र है। प्रकृति उपादान है। प्रकृति, पुरुष और ईश्वर अलग-अलग हैं। ईश्वर केवल एक विशेष प्रकार का पुरुष है। शंकर ने इस मत में दोष दिखाया, “हीन, मध्यम और उत्तम प्राणियों की सृष्टि करने वाला होने के कारण ईश्वर राग-द्वेष से युक्त हो जायेगा। यही दोष है।”

वह बोला, “यदि कहा जाये कि इस भेद का कारण कर्म है तो?”

“तब तो कर्म और ईश्वर के बीच में प्रवर्त्य और प्रवर्तक का भाव स्वीकार करना पड़ेगा। यह अन्योन्याश्रयदोष है और आपका पुरुष तो उदासीन है। इसलिये, वह कर्म नहीं कर सकता। कर्मरहित होने पर ईश्वर उसको जन्म कैसे दे सकता है?”

फिर तार्किक की बारी आयी। वह भी ईश्वर को निमित्त और प्रकृति और ईश्वर के भेद को कहने वाले थे। पाशुपत और वैशेषिक भी इनके तर्क का ही आश्रय लेते थे। उसको सम्बोधित करके शंकर ने कहा, “आपके मत में प्रकृति को वश में करके जगत् की सृष्टिक्रिया में प्रवृत्त होने के लिये ईश्वर का शरीर होना चाहिये। परन्तु शरीर तो सृष्टि के बाद ही उत्पन्न होता है। अतः, आपका ईश्वर जगत् का निमित्त नहीं हो सकता। इतना ही नहीं; सृष्टि के पूर्व केवल उसका ही शरीर होता है, यह कल्पना यदि आप करें तो उसको भोग हो जायेगा। तब उसमें और पुरुष में कोई भेद ही नहीं रह जायेगा।”

इसके बाद बहुत से सिद्धान्ती शंकर के आक्षेपों का सामना न कर सकने के कारण लौट गये। अन्त में सांख्य सामने आया। ब्रह्म जगत् का उपादान है इस वैदिक मत के विरुद्ध उसने अपने मत का प्रतिपादन किया, “घटादि जड़ वस्तुओं का मृदादि जड़ द्रव्य कारण होते हैं। उसी प्रकार जड़ प्रधान जगत् का उपादान है।”

“चेतन अधिष्ठान के बिना प्रधान में प्रवृत्ति नहीं हो सकती। अतः, प्रधान स्वतन्त्र रूप से जगत् का कारण नहीं हो सकती।”

“पानी के बहने की प्रवृत्ति में भी कोई चेतन नहीं होता न?”

“पानी को बहने के लिये ढाल चाहिये होती है। लोग ढाल बनाकर खेतों में पानी बहा ले जाते हैं, यह आपने देखा है न?”

“अगर आप चेतन अधिष्ठान का आग्रह करते हैं तो पुरुष है ही। वह ही प्रवर्तक हो सकता है।”

“आपका पुरुष उदासीन है। अतः, वह न प्रवर्तक है, न निवर्तक है।”

“उदासीन चुम्बक लोहे की कीलों के लिये प्रवर्तक होता है न?”

“यह प्रवर्तकत्व सान्निध्य के कारण होता है। यदि इसे स्वीकार किया जाये तो प्रधान का पुरुष से सान्निध्य नित्य होने के कारण सृष्टि भी नित्य हो जायेगी। तब लय के लिये अवसर ही नहीं रहेगा।”

“आपके सिद्धान्त में भी तो ईश्वर उदासीन ही है न? उसके बारे में आप क्या कहते हैं?”

“बोलता हूँ, सुनो! श्रुतिप्रमाणसिद्ध ईश्वर अपने स्वरूप के आश्रय से उदासीन है और माया के आश्रय से प्रवर्तक है।”

“ईश्वर के साथ आप माया को भी कह रहे हो! तब तो आप हमारी तरह द्वैती ही हो गये न?”

“माया ईश्वर से भिन्न नहीं है; वह उसकी शक्ति ही है।”

प्रधानमल्ल सांख्य की हार के साथ ही वाद समाप्त हुआ। एकत्रित जनसमूह ने उच्च स्वर में शंकर और शारदा देवी का जयकार किया। अध्यक्ष महोदय आकर सावधानी से शंकर को सर्वज्ञपीठ के निकट ले गये।

परन्तु यह क्या, सर्वज्ञपीठ की पहली सीढ़ी पर शंकर अपना दायाँ पैर रखने ही वाले थे कि तभी अन्तिम सीढ़ी पर एक देवी दिख पड़ी जो हाथ उठाये शंकर को रोक रही थी। देवी ने ऊँची आवाज में कहा, “रुको, रुको। आप ऊपर नहीं आ सकते। मैं इस पीठ की अधिष्ठात्री देवी हूँ। यहाँ पर बैठने वाले का केवल वरिष्ठ विद्वान् ही होना पर्याप्त नहीं है, उसे परिशुद्ध भी होना चाहिये। आप परिशुद्ध नहीं हैं। संन्यासी होने पर भी परकायाप्रवेश करके आपने स्त्रीसंग किया। यहाँ आपके लिये कोई जगह नहीं है।”

“माँ, स्त्रीसंग गृहस्थ ने किया था या संन्यासी ने?”

“संग जिसने किया वह गृहस्थ होने पर भी उसके अन्दर तो संन्यासी ही था न?”

“लिंग, वर्ण और आश्रम स्थूलशरीर के ही होते हैं, सूक्ष्मशरीर के नहीं। एक ही सूक्ष्मशरीर कर्म के अनुसार विभिन्न शरीर प्राप्त करता है ऐसा शास्त्र कहता है।”

“कर्म के अनुसार संस्कार होते हैं। वे रहते हैं बुद्धि में। संन्यास के संस्कार से युक्त बुद्धि का गृहस्थ के शरीर में प्रवेश करना गलत नहीं है क्या?”

“माँ, एक बर्तन में पड़े शुद्ध जल को अगर दूसरे अशुद्ध पात्र में डाल दिया जाये तो शुद्ध जल अशुद्ध हो जाता है। मैंने किसी भी संस्कार से रहित प्रेत में प्रवेश किया था यह ध्यान रखिए। अतः मैं भ्रष्ट नहीं हूँ। और फिर सूक्ष्मशरीर का स्थूलशरीर के साथ सम्बन्ध ही नहीं होता। अतः, जनक के साथ वाद करते समय उसके शरीर में प्रवेश करने पर भी सुलभा भ्रष्ट नहीं हुयी। गुरुपत्नी की इन्द्र से रक्षा करने के लिये गुरुपत्नी के शरीर में प्रवेश करने वाला उत्तङ्ग भ्रष्ट नहीं हुआ। इतना ही नहीं। सृष्टिकार्य करने के लिये ईश्वर जीवात्मा में प्रवेश करने पर भी भ्रष्ट नहीं होता। तो मैं प्रेत में प्रवेश करने पर भ्रष्ट कैसे हो सकता हूँ?”

“स्त्रीसंग का संस्कार बुद्धि में होता है। उस बुद्धि के साथ इस संन्यासीशरीर में लौट आये हो, इसलिये सांकर्य हुआ है।”

“माँ, यदि वह संस्कार रहा होता तो मैं वहीं रह गया होता, वापिस नहीं

आता। मेरे लौटने के बाद अगर उभय भारती देवी अपने द्वारा पूछे गये प्रश्नों के उत्तर देने के लिये आग्रह करतीं, और यदि मैं उत्तर दे देता तो शायद मुझे उस विषय पर बात करने का दोष लगता। वह महान् थीं, दूरदृष्टि से युक्त थीं। उत्तर के लिये उन्होंने अनुरोध नहीं किया, मैंने भी स्वयं कुछ नहीं कहा। और फिर माँ, अगर मुझमें वह संस्कार होता तो मुझे आपके दर्शन ही नहीं होते।”

इस वार्तालाप के बाद देवी ने हँसकर कहा, “वत्स शंकर!, तुम निर्दोष हो और धर्म के उद्धार के लिये अवतीर्ण हुये हो, यह दोनों बातें मुझसे छुपी नहीं हैं। हर प्रकार से प्रयत्न करके मण्डन को जीतना धर्म की संस्थापना के लिये आवश्यक था। तुम्हारे सर्वज्ञत्व को प्रकाशित करने के लिये उभय भारती को कामविषयक प्रश्न पूछने की और तुम्हें परकाया में प्रवेश करने की, इन दोनों की प्रेरणा विधि ने ही दी थी। लोग यह बात जान जाये, इसीलिये मैंने तुमसे यह वाद किया। तुम यह वाद जीत गये हो। चढ़ो और पीठ पर बैठो।”

शंकर एक-एक करके सीढ़ी चढ़े और सर्वज्ञपीठ पर बैठ गये। तालियों की गड़गड़ाहट, घण्टों, ढोल, नगाड़ो, शँखों और उपस्थित जनसमूह की जयकारों ने गगनभेदी नाद उत्पन्न किया। शंकराचार्य के सिर के ऊपर शारदा देवी का वरदहस्त था।

“अहो! अहो! अहो! ऐसा अद्भुत दृश्य किसी ने कभी नहीं देखा। हम कितने भाग्यशाली हैं,” लोग इस प्रकार बातें कर रहे थे। शंकर के सिर से हाथ हटते ही तुरन्त शारदा देवी अन्तर्धान हो गयीं। शंकर जी भी एक क्षण और वहाँ नहीं रुके; तुरन्त सीढ़ियाँ उतरकर पृथ्वीधर और तोटक के साथ नगर की पूर्व दिशा की ओर प्रस्थान कर गये।

• • •

अध्याय सोलह कश्मीर से कैलाश

मार्ग में एक गाँव पड़ा। वहाँ लगभग सौ घर थे। रहने के लिये भगवान् का मन्दिर भी था। पास ही शुद्ध जल का झरना बह रहा था। रहने की और शिक्षा की, दोनों की सुविधा थी। तीनों वहीं रुक गये। दो-तीन दिन विश्राम किया। एक रात जब पुजारी सायंकाल की पूजा समाप्त करके, रात भर जलाये रखने के लिये दो बड़े दीपों में तेल डालकर चले गये, तब शंकराचार्य ने अपने शिष्यों को बुलाकर कहा, “बैठो, आपके साथ कुछ विषयों पर बात करनी है। सावधानी से सुनो। मोक्ष की साधना के लिये समाज में शांति और संयम बनाए रखना आवश्यक है, यह मैं कई बार कह चुका हूँ। किन्तु इस समय शांति भंग हो रही है। एक तो बौद्धों के कारण और दूसरे म्लेच्छों के आक्रमण के कारण। पहले बौद्धों के बारे में सुनो। 12-13 शताब्दी पहले बुद्ध ने कुछ कहा। वह क्या था यह सही-सही जानने का कोई मार्ग नहीं है। जो उनके शिष्य कह रहे हैं वही हमें बुद्ध का कहा हुआ मानना पड़ेगा। उनके शिष्य अलग-अलग रूप से उसका प्रतिपादन कर रहे हैं। एक-एक को लेकर दिखाया गया कि वह गलत है। लेकिन इतना तो स्पष्ट है कि बुद्ध वेद और वर्णाश्रम धर्म के विरोधी थे। इस दोष के कारण उनके अनुयायी समाजद्रोही हुए। उन्होंने निरन्तर आक्रमणकारियों की सहायता की। भगवान् की कृपा से पुष्यमित्र आदि राजाओं ने उनका पूर्ण रूप से दमन कर दिया है। फिर भी, सुगत की शांति और अहिंसा से भरी रंगीली बातों से मुग्ध अपने को पण्डित मानने वाले और कुछ सामान्य जन अभी भी बाकी हैं। उनको वापिस लाने का काम अभी शेष है। परन्तु मुझे डर है कि आगे भी सुगत से स्फूर्ति पाकर कुछ लोग इस प्रकार के विभिन्न भ्रमों को फैलायेंगे। सांख्यादि के समान वैदिकपरिधि में ही रहकर यह काम किया जाये तो उतनी हानि नहीं है और समाजद्रोही भी उत्पन्न नहीं होते। जैनों के समान वैदिक सम्प्रदाय का विरोध न करके अपनी कल्पनाएँ करना भी चिन्ता का विषय नहीं है। अगर वैदिकपरिधि का उल्लंघन किया जाता है तो बहुत हानि होती है।”

पृथ्वीधर बीच में बोले, “सुगत के अनुयायियों को सुधारने में एक रुकावट है।”

“क्या रुकावट है?”

“आत्मस्वरूप में जगत् नहीं है, यह जो श्रुति में कहा गया है इसमें और शून्यवादियों और विज्ञानवादियों के बीच में महान् अन्तर है, यह तो सच है; परन्तु फिर भी, इस अन्तर को ग्रहण करने में असमर्थ सामान्यजन सोचते हैं कि सुगत का सिद्धान्त श्रुति के विरुद्ध नहीं है और उसी का अनुवर्तन करने लगते हैं। इसका निवारण करने के लिये क्या लोगों के सामने सगुण परमात्मा की ही उपासना को ही नहीं रखना चाहिये?”

“वह कारगर नहीं होगा, क्यों देखो। जब उनको पता पड़ेगा कि श्रुति निर्गुण परमात्मा को भी कहती है तो सगुण और निर्गुण को विरुद्धवचन समझकर लोगों का श्रुति पर से विश्वास उठ जायेगा। तब वे सुगत के और निकट हो जायेंगे। अतः वह करना ठीक नहीं है। हमें समग्र वेद को ही लोगों के सामने रखना है और अपने-अपने अधिकारानुसार वे चयन कर लें ऐसा कहना चाहिये। पुराण-इतिहास यही करते हैं।”

“और एक प्रश्न है- बौद्धों ने संघों को स्थापित किया। इससे बहुत शीघ्र ही बौद्धमत का प्रचार हो गया। अपना कार्य सिद्ध करने के लिये क्या हम लोग भी बौद्धों की तरह संघ की स्थापना करें?”

“संघ बनाने से समाज संघटित नहीं हो जाता। इतना ही होता है कि समूहों में एक और समूह जुड़ जाता है। बौद्धों के भी इस समय तीन-चार संघ हो गये हैं न! जैनों में भी हो गये हैं न! मनुष्यों द्वारा स्थापित संघों का कालान्तर में नाश होना निश्चित है। ‘यज्जातं तन्मर्त्यम’ - जो पैदा होता है वह अवश्य मरता है। जो अपना योगक्षेम वहन करने में भी असमर्थ है वह समाज के योगक्षेम की क्या व्यवस्था करेगा! समग्र समाज के योगक्षेम के लिये भगवान् ने ही एक अमर्त्यव्यवस्था रची है। वह है वर्णाश्रमव्यवस्था। अनादिकाल से वैदिक परम्परा का जीवित रहना ही इस बात में प्रमाण है कि यह व्यवस्था भगवान् की ही है।”

“परन्तु इस समय तो वर्णाश्रमव्यवस्था क्षीण हो रही हैं न?”

क्षीण हो सकती है, परन्तु मर नहीं सकती। अपने अनुष्ठान से, स्वाध्याय से और प्रवचन से उसके क्षय को रोकना ही ब्राह्मण का धर्म और तप है। समाज मार्गदर्शन के लिये ब्राह्मण की ओर ही देखता है। इसलिये सबसे पहले ब्राह्मण की रक्षा होनी चाहिये। उसमें त्याग, विद्या, कष्टसहिष्णुता, दूरदृष्टि, धैर्य, और समग्र समाज के प्रति मैत्रीभाव होना चाहिये। ऐसे ब्राह्मणों को तैयार करना ही आपका ध्येय होना चाहिये।”

“तुरन्त हमें क्या करना चाहिये? कैसे आगे बढ़ें?”

“तुरन्त तुम्हें धर्मपरिवर्तन का सामना करना है। सबसे पहले तुम्हें यह समझना चाहिये कि क्या कारण है कि जो चाहे आकर वैदिकों का धर्मपरिवर्तन कर लेता है। समाज का अधिकांश भाग मुग्ध होता है। कुटिल बुद्धि वालों की वंचना भरी बातों से वे आसानी से शिकार बन जाते हैं। वेदनिन्दकों की संख्या में वृद्धि होने का यही कारण है। बौद्धों की वंचना का एक दृष्टान्त देखें, एक दीवार के सामने मुग्धों को बिठाकर उनको कहते हैं कि वे कोई भी प्रश्न पूछ सकते हैं जिसका उत्तर बुद्ध देंगे। उनके द्वारा कोई भी प्रश्न पूछने पर दीवार के पीछे बैठा कोई उत्तर देता है। उनमें विश्वास पैदा करके धर्म-परिवर्तन करने के लिये इतना ही पर्याप्त है। और केरल में क्रिस्तानों द्वारा की गयी वंचना को तो आप जानते ही हो। लेकिन चाहे मुग्ध ही क्यों न हो, सात्त्विक ब्राह्मण के सम्पर्क में रहने से इस वंचना का शिकार नहीं बनता। अतः, ब्राह्मण कदापि मुग्ध जनों को अपने से दूर न रखें। और जो अमुग्ध हैं वे बौद्धधर्म का शिकार कैसे बने? वैदिक अनुष्ठान के प्रति आलस्य या अपेक्षा के कारण। प्रलोभन भी एक कारण हो सकता है। कुछ बुद्धिमान भी शिकार बन गये हैं, उसका क्या कारण है? उन्होंने वैदिक सिद्धान्त को ठीक-ठीक नहीं समझा है। उनको तत्त्व ठीक तरह समझाना ही इसका समाधान है। अमुग्धों में कर्मासक्ति बढ़ानी चाहिये। मुग्धों के साथ प्रेममय सम्पर्क रखना ही पर्याप्त है।”

“मुसलमानों द्वारा किये गये धर्मपरिवर्तन में वंचना नहीं क्रूरता है। उसका सामना कैसे किया जाये?”

“इस समस्या के दो भाग हैं। पहला है क्रूरता को थामना। यह कार्य

प्रधानतया से सीधे तौर पर राजा का है। इसमें प्रजा का पात्र गौण और परोक्ष है। साक्षात् रूप से तो वे कुछ भी नहीं कर सकते। इस में राजा को कर्तव्य के विषय में मार्गदर्शन करना ब्राह्मण का कर्तव्य है। इसका दृष्टान्त है कौटिल्य। अगर क्रूरता का सामना करने में राजा समर्थ नहीं है तो समर्थ ब्राह्मण हथियार उठाकर आगे बढ़ सकता है। इसका दृष्टान्त है पुष्यमित्र। हमने सुना है जब वे एकच्छत्राधिपति बने तो योगशास्त्र के प्रणेता पतञ्जलि ने उनसे अश्वमेध यज्ञ करवाया। परन्तु याद रखना चाहिये कि ब्राह्मण द्वारा शास्त्र उठाना आपद्धर्म है।”

“इस समस्या का दूसरा भाग क्या है?”

“जो क्रूरता से परिवर्तित किये गये हैं उन्हें वापिस लाना। क्रूर म्लेच्छराजा भी हमेशा नहीं बने रहेगा। अतः, योग्य समय की परीक्षा करके, उसके भय से धर्मपरिवर्तन करने वालों को वापिस ले आना चाहिए। उनकी वापिस आने की इच्छा होने पर भी शास्त्र में श्रद्धा रखने वाले दूसरे लोग इसमें विघ्न डालते हैं। यह एक जटिल समस्या है। अतः इसका समाधान बताने वाले प्रकाण्ड पण्डित और परम सात्त्विक होने चाहिये, तथा इतने तेजस्वी होने चाहिए कि उनका उल्लंघन करने में लोग भय का अनुभव करें। वे पतितों को उचित प्रायश्चित्त करवाकर उन्हें समाज में फिर से स्थान दिलाएं। किसका क्या अनाचार है, और कितना प्रायश्चित्त है? पतितावस्था में कितनी पीढ़ियों तक पुनः परिवर्तन हो सकता है? जिनका पुनःपरिवर्तन होना है वे म्लेच्छों से उत्पन्न हुये हैं या दूसरे पतितों से? यह सब विचार करके फिर पुनः परिवर्तन का काम करना चाहिये। तीक्ष्ण से तीक्ष्ण लौकिक बुद्धि भी इन प्रश्नों का उत्तर नहीं दे सकती।”

“केरल के क्रिस्तानों के समान जिनको वंचना से परिवर्तित किया गया है, उनके विषय में क्या-क्या बातें ध्यान रखनी आवश्यक हैं?”

“ऊपर जो कुछ कहा गया है वह इन पर भी लागू होता है। उनको उनके अधिकारानुसार थोड़ा-थोड़ा शास्त्र भी बताना चाहिये। दोष का स्वभाव, परिमाण, किन सन्दर्भों में दोष उत्पन्न हुआ, इन सब को दृष्टि में रखकर ही शास्त्र दोष की चर्चा करता है। उन्हें समझाना चाहिये कि वंचना के कारण

किया गया दोष अत्यन्त अल्प होता है। इससे हम पतित हैं, यह भ्रान्ति नष्ट हो जाती है। पृथ्वीधर! इस सन्दर्भ में सौराष्ट्र के देवल को मन में रखो। उस दिन उसके साथ जो चर्चा हुयी थी वह याद है न? उसके विकास की ओर ध्यान देना। उससे आगे चलकर बहुत महान् कार्य होने हैं।”

एक और दिन तोटक सो चुके थे। पृथ्वीधर के साथ बात करते हुये शंकराचार्य ने कहा, “पृथ्वीधर! तुम्हारे ऊपर बहुत बड़ी जिम्मेवारी है। परमपूज्य गोविन्दभगवत्पाद के शिष्य और शिष्यों के शिष्य जो संन्यासी हैं, इस समय देश भर में पर्याप्त मात्रा में मौजूद हैं। उनका भरपूर प्रयोग करके सब संन्यासियों को एक सूत्र में बाँधकर उनका मार्गदर्शन करना चाहिये। इस समय चारों दिशाओं में स्थापित आमनायपीठों के जगद्गुरु अपनी-अपनी परिधि में काम कर रहे हैं। चूंकि हमारा देश बहुत बड़ा है इसलिये ये चारों समय-समय पर आपस में मिलकर विचार-विमर्श नहीं कर सकते। अतः, इस कार्य के लिये कुम्भ के मेलों का लाभ उठाना चाहिये। अपने-अपने संस्कारसामर्थ्य के अनुसार संन्यासियों को जंगलों, पर्वतप्रदेशों, नदीतटों, समुद्रतटों, गाँवों और नगरों में संचार करते हुये समग्र राष्ट्र में वैदिक परम्परा की स्थापना करनी चाहिये। अलग-अलग जन-समूह का अलग-अलग अधिकार होता है। अतः उनको समझाने के विषय भी अलग-अलग होते हैं; समझाने के ढंग भी अलग-अलग ही होते हैं। इसलिये, योग्यतानुसार संन्यासियों की अलग-अलग स्थानों पर रहने के लिये व्यवस्था हो सके इसका प्रयत्न करना चाहिये। कुम्भमेले में संन्यासियों के इकट्ठे होने पर पूर्वमीमांसा, शारीरकमीमांसा, पुराण-इतिहास-स्मृतियों, और तत्कालीन धर्म की स्थिति पर भी चर्चा होनी चाहिये। परिस्थिति सदा एक सी नहीं रहती। सन्दर्भ यदि बदल भी जायें तो भी यह वैदिक आधार जिस प्रकार नहीं बदलना चाहिये उसी प्रकार सन्दर्भानुसार इन मेलों में लोगों का मार्गदर्शन निरन्तर होते रहना चाहिये। मैंने जो कहा है तुम समझ गये न? कुछ पूछना है तो पूछो।”

“ भगवन्! मुझे तो चारों ओर अन्धकार ही दिखता है। हमारा यह कार्य सफल होगा क्या?”

“पृथ्वीधर, ध्यान रखो। कार्य करने के लिये उद्यत व्यक्ति को ही यदि

आत्मविश्वास नहीं होगा तो वह कार्य क्या करेगा? उत्साह रखो। हमारी सहायता करने के लिये कोई भी नहीं है यह चिन्ता न करो। 'क्रियासिद्धि सत्त्वे भवति महता नोपकरणे' – यहाँ सत्त्व का अर्थ है उत्साह। उत्साह हो तो और किसी उपकरण की आवश्यकता नहीं होती। तुम्हारा उत्साह देखकर दूसरे भी उत्साहित हो जायेंगे। और फिर फल की आकांक्षा से जो कार्य करता है वह कृपण होता है। फल कर्ता के अधीन नहीं होता, वह तो परमेश्वर के अधीन होता है। क्योंकि फल देश-काल-निमित्त की अपेक्षा रखता है। देश-काल-निमित्त कर्ता के अधीन नहीं होते ईश्वर के अधीन होते हैं। अतः उत्साह के साथ कार्य करना ही हमारा ध्येय होना चाहिये। अगर फल की इच्छा करते हैं तो उसके भोग के लिये एक और जन्म लेना पड़ता है। अतः, जो पुनर्जन्म नहीं चाहता वह फल की इच्छा नहीं करता। किया गया तप कभी व्यर्थ नहीं जाता। उसका फल हमारे जीवित रहने की अवधि में न मिलने पर भी तप का फल तो होता ही है। देर से होने दो। धर्म का नाश नहीं होता। एक बार उत्कर्ष, एक बार अपकर्ष होता है, लेकिन युग-युगान्तरों से यह धर्म जीवित ही है न! जहाँ तक हमें पता है ग्रीक, हूण, कुशान और अरबों के द्वारा क्रूर आक्रमण होने पर भी धर्म बचा हुआ है। अतः, हम धर्म की रक्षा करते हैं यह अहंकार ठीक नहीं है। आगे भी यह जीवित ही रहेगा। किन्तु स्वाध्याय और प्रवचन का निरन्तर आचरण करना ही हमारा तप है। इस तप का विशेष अवसर प्राप्त हुआ है; धर्म के संकट में पड़ने के समय हमारा जन्म हुआ है, इस प्रकार अपना सौभाग्य मानकर इस दैवी कार्य के आधाररूप से तुम्हें स्थापित करूँ यह मेरी हार्दिक इच्छा है।”

“भगवन्! आपका अनुग्रह और मार्गदर्शन सदैव मुझ पर बना रहे। आपके द्वारा दिये दायित्व को मैं निभाऊँगा।”

“तुम पर मेरा पूरा आशीर्वाद है। इसके बाद समय-समय पर भगवान् का मार्गदर्शन, रहेगा। उनमें श्रद्धा रखकर, अपने कर्मों को उनको समर्पित करते हुये आगे बढ़ो, यशस्वी हो। अब देर हो गयी है, जाओ सो जाओ”। पृथ्वीधर ने नमस्कार किया। भगवान् शंकर ने अपने दाहिने हाथ को बहुत देर तक उसके सिर पर रखे रखा।

पृथ्वीधर जी उस रात देर से सोये थे फिर भी अगले दिन ब्रह्ममुहूर्त से भी पहले उठ गये। उनके उठने की आवाज़ से तोटक भी उठ गये। जब वे शौच समाप्त करके झरने में स्नान कर लौट रहे थे तब भी सूर्योदय में बहुत समय बाकी था। मार्ग में पृथ्वीधर ने कहा, “तोटक जी! मुझे बहुत डर लग रहा है।”

“क्या कह रहे हो आचार्य! आप को डर लग रहा है? किसलिये डर लग रहा है?”

“ऐसा लग रहा है कि गुरु जी के सान्निध्य का भाग्य हमें अब बहुत कम समय के लिये मिलने वाला है।”

“भगवन्! आप क्या कह रहे हैं? स्पष्ट बताइये न!”

“कल रात उन्होंने मुझसे जिस ढंग से बात की उससे मैं घबरा गया हूँ। आज उठने से पहले मैंने एक सपना देखा। गुरु जी दूर पर्वत पर चढ़ते हुये जा रहे थे। आप और मैं उनका पीछा करते हुये दौड़ रहे थे। अगले ही क्षण वे दिखायी नहीं दिये। उस भय से ही मैं उठ गया था।”

“इसीलिये आप चिल्लाये थे और मैं भी उठ गया था।”

“अब इसके बाद हम एक क्षण के लिये भी उन्हें नहीं छोड़ेंगे। गुरु जी के उठने का समय हो गया है। आओ, चलें।”

दोनों ने तेज-तेज चलते हुये गुरु जी के कक्ष में प्रवेश किया। वहाँ गुरु जी नहीं थे। दोनों के हृदय काँप उठे। वे झरने की ओर भागे। “गुरु जी, गुरु जी,” चिल्लाते हुये उन्होंने कई बार आवाज़ लगायी। सब जगह दूँढा। कहीं भी नहीं मिले। मन्दिर के पुजारी के घर जाकर उन्हें उठाया। उसने औरों को जगाया। सारा गाँव उठ गया। गुरु जी कहीं नहीं मिले। पृथ्वीधर और तोटक की स्थिति तो पागलों जैसी हो गयी। गाँव तक दो ही मार्ग आते थे। एक कश्मीर से आता था और दूसरा उसकी उल्टी तरफ से। दोनों उल्टी दिशा की ओर दौड़े। पर्वतप्रदेश था। वे कितनी दूर तक दौड़ सकते थे? फिर चलने लगे। मार्ग में, “क्या आपने किसी बत्तीस वर्षीय संन्यासी को देखा है?” ऐसा सबसे पूछते रहे। किसी ने भी नहीं देखा था। तत्पश्चात् मार्ग बहुत हिस्सों में बट गया। किस मार्ग को पकड़ें यह समझ नहीं आ रहा था। वे कोई

भी मार्ग लिये जा रहे थे। इस प्रकार चलते हुये कई दिन बीत गये। अन्त में गर्म पानी का एक कुण्ड आया। पृथ्वीधर जी बोले, “तोटक जी! यह तो गौरीकुण्ड है। अब हमें क्या करना चाहिये? किस ओर जायें? आप ही बताओ।”

“आचार्य, दृढ़ मन से हम केदार की दिशा में जायें। वहाँ भी अगर गुरु जी के दर्शन नहीं हुये तो मैं जीवित नहीं रहूँगा। वहीं किसी शिखा से गिरकर देह त्याग दूँगा।”

“तोटक जी ऐसा मत बोलिये। याद रखिये कि गुरु जी ने आप को बहुत बड़ी जिम्मेवारी सौंपी है।”

तोटक जी बिलख-बिलख कर रोने लगे। अपने आप को सँभालकर थोड़ी देर में दोनों ने फिर केदारनाथ की दिशा में चलना आरंभ किया। मार्ग में एक व्यक्ति गाय चरा रहा था। उससे पूछा, “यहाँ से किसी संन्यासी को जाते हुये देखा है क्या?”

“कल रात को एक संन्यासी हमारे गाँव में सोये थे, सुबह उठकर चले गये।”

“वह कैसे थे बोलो।”

“लगभग बत्तीस वर्ष के होंगे। कैसे थे क्या बताऊँ, बिल्कुल एक देवता की तरह थे।”

“हाथ में दण्ड और कमण्डलु था क्या?”

“अरे! तब तो वे कोई और थे, उनके पास तो कुछ भी नहीं था।”

“वे लम्बे थे अथवा छोटे कदवाले थे?”

“बहुत लम्बे तो नहीं परन्तु लम्बे तो थे।”

“वे गोरे थे या श्यामवर्ण?”

“शिव के समान गौरवर्ण थे।”

“तोटक जी, तुरन्त चलो। इसके वर्णन से तो गुरु जी ही लगते हैं। अगर उनका दर्शन होता है तो यह हमारा भाग्य होगा।”

“लेकिन उसने तो कहा है कि उनके पास दण्ड-कमण्डलु नहीं थे?”

“कहीं विसर्जित कर दिये होंगे। अपना कार्य समाप्त होने पर परमेश्वर को दण्ड और कमण्डलु की क्या आवश्यकता है। तोटक जी-आओ चलें।”

वे केदारेश्वर के मन्दिर की ओर चले। सायंकाल का समय हो चुका था। आखिरकार बहुत दूर कोई पर्वत पर चढ़कर जाता हुआ नजर आया। दोनों और भी तेज चलने लगे। काफी तीव्र चढ़ाई थी। देखते ही देखते, अस्त होते सूर्य की किरणें उस व्यक्ति पर पड़ीं। स्पष्ट हुआ कि वह गुरु जी ही थे। जोर-जोर से पुकारने पर भी उन्हें सुनायी नहीं दिया, वे इतनी दूर थे। दोनों आवेश में आकर दौड़ने लगे। गुरु जी और उनके बीच में अन्तर कम हुआ। “गुरु जी! भगवन्! स्वामी!” चिल्लाते हुये उन्होंने पुकारा। शायद गुरु जी ने सुना नहीं। एकाएक गुरु जी ने अपना मार्ग बदला और एक दूसरी शिखर पर चढ़ने लगे। दोनों भी साँस भरकर ऊपर की ओर भागे। दूरी और भी कम हुयी। ‘भगवन्! भगवन्! भगवन्!’, उन्होंने आवाज लगायी। शंकर शिखर के छोर तक पहुँच गये। अस्त होते सूर्य का प्रकाश उनपर गिरा। उन्होंने घूमकर देखा। दोनों को गुरु का स्पष्ट दर्शन हुआ। वे और आगे एक भी कदम न रख सके और “भगवन्! भगवन्! कहते हुये वहीं गिर गये। गिरते समय जो उनके हाथ पैर पसरे वही उनका नमस्कार हुआ। फिर हिम्मत करके दोनों उठे। भगवान् ने अपना दाहिना हाथ ऊपर उठाया और हथेली को आगे-पीछे करते हुये आशीर्वाद दिया। इतने में सूर्यास्त हो गया। पर्वतप्रदेश होने के कारण पश्चिम के एक शिखर ने सूर्य को पूरी तरह ढँक दिया। कुछ ही क्षणों में अन्धकार छा गया। कोटि-कोटि बिजलियाँ एक साथ शंकर जी के चारों ओर प्रकाशित हो उठीं। उस चकाचौंध से उन दोनों की आँखें बन्द हो गयीं। बड़े प्रयत्न से उन्होंने आँखें खोलकर देखा तो केवल प्रकाश ही प्रकाश था, शंकर का शरीर नहीं था। वह प्रकाश कभी नहीं बुझा आज भी वैसा ही है। गुरु जी का शरीर शिखर के दूसरी ओर जाकर कहीं और चला गया या देवता उसे अपने लोक ले गये, यह कोई नहीं जानता। उस दिन रक्ताक्षि संवत्सर के ज्येष्ठ मास शुक्ल पक्ष की द्वादशी तिथि थी।



अध्याय सतरह

शंकराचार्य का सन्देश

शंकराचार्य के अन्तिम दर्शन के बाद जो कुम्भमेला हुआ उसमें पिछले संवत्सरो की अपेक्षा जो अत्यधिक संन्यासियों ने भाग लिया, उसका श्रेय पृथ्वीधर को है। पद्मपादाचार्य, हस्तामलकाचार्य और तोटकाचार्य ने भी भाग लिया। वृद्धावस्था के कारण सुरेश्वराचार्य नहीं आ सके। शंकराचार्य का सन्देश संन्यासियों तक पहुँचाने के विषय में इन चारों के बीच विस्तृत चर्चा हुयी। अन्त में यह दायित्व पृथ्वीधर को सौंपा गया। अगले दिन संन्यासियों की सभा थी। सभा का उद्देश्य पहले ही सूचित कर दिया गया था, इसलिये संन्यासियों में काफी उत्साह और कौतूहल था। कार्यक्रम का आरंभ आनन्दवल्ली के पाठ से हुआ, जिसका प्रारंभ 'ब्रह्मविदाप्नोति परं तदेष्टाभ्युक्ता' से होता है। एक कण्ठ से इसका पाठ करने से सबको अभूतपूर्व आनन्द का अनुभव हुआ। फिर पृथ्वीधराचार्य उठकर बोले:

“सर्वप्रथम मैं हम सबके हृदयसम्राट् सर्वज्ञ परमेश्वर शंकरभगवत्पाद का स्मरण करके नमस्कार करता हूँ। मंचासीन, उनके द्वारा ही नियुक्त जगद्गुरुओं-परमपूज्य पद्मपाद, हस्तामलक और तोटक को नमस्कार करता हूँ। वृद्धावस्था के कारण जो यहाँ न आ सके उन परमपूजनीय सुरेश्वर को नमस्कार करता हूँ। ब्रह्मविदों में श्रेष्ठ आप सबको भी मेरा नमस्कार। आप सबको शंकरभगवत्पाद के अन्तिम दिनों के विषय में सुनने की हार्दिक इच्छा हैं, मैं जानता हूँ। अतः, उसको पहले कहना मेरा कर्तव्य है”, इतना कहकर उन्होंने विस्तार से सारा वृत्तान्त कह सुनाया। बोलते समय बार-बार उनका कण्ठ गद्गद् हो उठता था। कथन के आदि से लेकर अन्त तक वक्ता और श्रोताओं की आँखों से आसुँओं की धारा बहती रही। मन को नियन्त्रित करके पृथ्वीधर ने फिर बोलना शुरू किया:

“अब उनका सन्देश सुनाना है। बदरीनाथगुहा में उनको दर्शन देने वाले त्रिकालज्ञानी व्यासजी के कथनानुसार अभी लगभग चार देववर्षों तक

भारतभूमि में घोर परिस्थिति रहेगी। तीव्रता से धर्म की ग्लानि होगी। इसका मूलकारण है बुद्ध। साक्षात् उनके द्वारा कहा गया सिद्धान्त क्या है इसका निर्णय करने के लिये कोई आधार नहीं है। यह भी स्पष्ट नहीं है कि उन्होंने अपने ही समय में बौद्धधर्म की स्थापना की भी थी या नहीं। उनके सिद्धान्तों को कहने वाले उनके अनुयायियों के ही अनेक गुट हैं। उन सबने ही अपने-अपने ग्रन्थों की रचना की है। उन सबका खण्डन भाष्यकार ने किया है यह आप जानते ही हैं; किन्तु इतना तो निश्चित है कि इस राष्ट्र के श्वास वेद और वर्णाश्रमधर्म को उन्होंने धिक्कारा। शस्त्रास्त्रों के उत्पादन और माँस के विक्रय को बन्द करने का उन्होंने उपदेश दिया।¹ वेदविरुद्ध अपने धर्म का प्रचार करने के लिये संघ की स्थापना की और धीरे-धीरे बुद्धं शरणं गच्छामि, धम्मं शरणं गच्छामि, संघ शरणं गच्छामि इस घोषणा के द्वारा बुद्ध, संघ और उनका धर्म, अनुयायियों के लिये शरण्य हुआ। बुद्ध ने नियम किया कि अनुयायी राजा संघ के लिये सहयोग दें।² इससे बौद्धराजाओं को जबरदस्ती बौद्धधर्म प्रजाओं पर थोपने का अवसर मिल गया। पशुबलि रोक दी गयी।³ बाघ और सिंह जैसे दुष्ट पशुओं का वध करना भी बन्द हो गया। फलस्वरूप अपार संख्या में धेनु आदि पशु नष्ट हो गये।⁴ शिकार पर रोक लगा दी गयी।⁵ 'सभी धर्मों के प्रति सहिष्णुता हो, श्रमणों और ब्राह्मणों को समभाव से देखना चाहिये'⁶, बौद्धों के शिलालेख ऐसा कहते अवश्य हैं, परन्तु साथ ही साथ आक्रमण करने वाले शत्रुओं की सहायता करते हुये वैदिकधर्म को नष्ट करने का प्रयत्न भी करते रहे। युवक-युवतियाँ बौद्धविहारों में मिलकर भ्रष्ट जीवन जीते हुये बौद्धधर्म के प्रचारक बने और अपने माता-पिता के असह्य दुःख का कारण बने। चाणक्य ने उनको नियन्त्रित करने के लिये कुछ नियम बनाये, जैसे पुत्री अपने माता-पिता की आज्ञा के बिना भिक्षुणी नहीं बन सकती, पत्नी और बच्चों के जीवन की व्यवस्था बिना करे कोई पुरुष भिक्षु नहीं बन सकता इत्यादि।⁷ परन्तु अशोक ने इन सब नियमों को धूलि में मिलाकर भिक्षु-भिक्षुणियों को सरकार की ओर से सब भोगों की सुविधा दिलवायी।⁸ इन सबके परिणामस्वरूप बौद्ध निर्लज्ज होकर अपने राष्ट्रद्रोह के कार्य में लगे रहे।"

"बौद्धों का यह पतन धीरे-धीरे नहीं हुआ। वे शुरु से ही राष्ट्रद्रोही रहे

हैं। हजार वर्ष पहले भी जब सिकंदर ने भारत पर आक्रमण किया था तो उन्होंने उसका स्वागत किया।⁹ एक शहर के लोगों ने ब्राह्मणों के नेतृत्व में विद्रोह किया और उसका सामना किया। हर तरह से प्रयत्न करने पर भी जब वह उनके विद्रोह को दबा न सका तो उसने सैन्यबल से दुर्ग पर कब्जा करके निहत्थे ब्राह्मणों का नरसंहार किया। लगभग 80,000 लोगों को उसने मार डाला। और बहुत से लोगों को बन्दी बनाकर गुलाम के रूप में बेच डाला।¹⁰ ग्रीकों के बाद देश पर आक्रमण करने वाले कुशानों की भी बौद्धों ने सहायता की।¹¹ आज से 90 वर्ष पहले सिन्धु देश पर आक्रमण करने वाले मुसलमानों की जो उन्होंने सहायता की थी वह तो अत्यन्त घोर द्रोह था। उनके द्रोह के कारण मुसलमान राजा दाहिर को मारकर उसकी दो पुत्रियों और सहस्रों और स्त्रियों को उठा कर ले गये। शहरों में आग लगा दी गयी। क्रूरता से जबरदस्ती हमारे लोगों को अपने धर्म में परिवर्तित किया। अन्त में उन्होंने अपनी सहायता करने वाले बौद्धों को भी मार डाला।¹² इतना सबकुछ हो जाने पर भी बौद्धों की बुद्धि नहीं जागी। मुसलमानों की तरह बौद्धधर्म भी व्यक्तिनिष्ठ ही है यह याद रखो।”

“दूसरों के द्वारा किये गये धर्मपरिवर्तन भी बताता हूँ, सुनो। भगवान् शंकर ने जहाँ जन्म लिया उस केरलदेश में पश्चिम से आये हुये क्रिस्तान् नाम के लोग हैं। वहाँ आकर बसे हुये उन्हें लगभग सात शताब्दियाँ हो चुकी हैं। वे हमारे भोले-भाले लोगों को धोखे से अपने धर्म में परिवर्तित करके उनसे आज भी धन इकट्ठा कर रहे हैं।¹³ क्रिस्तानों का धर्म भी व्यक्तिनिष्ठ ही है।”

“इसका क्या अर्थ है? किसी व्यक्तिनिष्ठ अवैदिक धर्म में परिवर्तित सब लोग वैदिक धर्म और इस देश के प्रति द्रोह करने के स्तर तक पहुँच जाते हैं। यह द्रोहरूप व्याधि देश की सीमाओं से शुरू होती है। यह सच है कि पुष्यमित्र आदि राजाओं ने प्रायः इस समस्या का राजनीतिक समाधान करके बौद्धधर्म का प्रचार लगभग समाप्त कर दिया है। यह देखकर अगर हम चुप बैठ जाते हैं तो यह बहुत बड़ी भूल होगी। क्योंकि, जब तक लोगों को वैदिक धर्म के विषय में थोड़ा सा भी ज्ञान नहीं होगा तब तक यह

बीमारी नष्ट नहीं होगी; हिंसा से या धोखे से शत्रु उनको आसानी से छीन ले जायेंगे। अतः, इस समस्या का कोई सामाजिक समाधान निकालना चाहिये।”

“भगवान् शंकर ने बताया है कि स्वाध्याय और प्रवचन ही इसका समाधान है। सर्वदा सर्वत्र संचार करके सब लोगों के साथ सुहृदभाव से मिलके धर्म को समझाना और धर्माचरण करवाना हमारा कर्तव्य है। गृहस्थ विद्वान् भी यह कार्य कर सकते हैं। किन्तु उनमें और हम संन्यासियों में बहुत अन्तर है। गृहस्थ इसके लिये अपना सम्पूर्ण समय नहीं दे सकते; समग्र समाज की स्थिति को समझने का उन्हें अवसर नहीं मिलता क्योंकि वे ज्यादा घूम नहीं सकते। पूर्णतया त्याग और अभय उनके लिये साध्य नहीं है। हमें ये अननुकूलता नहीं होती। हम पूरे दिन यह कार्य कर सकते हैं। गाँव-गाँव घूमने से हमारा सब लोगों से सम्पर्क रहता है। चूंकि हम सारे व्यामोह त्याग चुके हैं, इसलिये भय हमारे समीप भी नहीं आ सकता। यह कहते हुये सिंकंदर के सामने जो एक प्रसंग हुआ था वह मेरे स्मरण में आ रहा है। बोलता हूँ, सुनिए।”

“सिकन्दर ने तक्षशिला में रहने वाले एक कौपीनमात्रधारी दण्डिसंन्यासी वृद्ध ज्ञानी के बारे में सुना था। अपने दूत के द्वारा उस संन्यासी के लिये सोने के साथ उसने यह सन्देश भेजा, ‘सिकन्दर सूर्यपुत्र है। सम्पूर्ण विश्व को उसने जीत लिया है। उसने आपके लिये यह सोने के आभूषण भेजे हैं। इसके बाद आप सुख से रह सकते हैं, भीख माँगने की आवश्यकता नहीं है। इनको स्वीकार करके उसके दरबार में उससे मिलने आओ। यदि यह स्वीकार नहीं करते हो तुम्हारा सिर काट दिया जायेगा।’ यह सन्देश सुनकर वह दण्डिसंन्यासी हँस पड़ा और दूत से बोला,

“भाई!, अब मैं जो कहता हूँ वह जाकर अपने राजा को सुनाओ। उससे कहो कि वह अकेला ही सूर्यपुत्र नहीं है, मैं भी सूर्यपुत्र ही हूँ। सभी मानव सूर्यपुत्र ही हैं। तुमने कहा न कि वह विश्वविजेता है? उसने तो अभी तक व्यास नदी भी पार नहीं की है। उसके बाद का देश बड़ा दुर्गम है। उसके भी बाद आता है मगधदेश। उस अतिदुर्गम प्रदेश को पार करके, मगध को भी जीतकर, यदि वह जीवित बच जाता है तो वह विश्वविजेता कहा जा

सकता है। जहाँ तक उसके द्वारा भेजे गये सोने की बात है, उस पर मैं थूकता हूँ। उससे मेरा कोई मतलब नहीं है। इस मातृभूमि ने मुझे सबकुछ दिया है। तुमने मुझे सिर कटने का भय दिखाया है न? सिर कटना क्या होता है, नीचे गिरा हुआ सिर जिस मिट्टी से आया था उसी में मिल जाता है। आत्मा नहीं मरती। वह आत्मा मैं सनातन हूँ जो काट नहीं जा सकता, जलाया नहीं जा सकता। यह भय उत्पन्न करने वाले वचन स्वर्ण में मोह रखने वाले में भय उत्पन्न कर सकते हैं मुझमें नहीं। मुझमें स्वर्ण का मोह भी नहीं है, मृत्यु का भय भी नहीं है। उसके दरबार में नहीं जाऊँगा। चलो, यहाँ से बाहर जाओ।” मात्र एक कौपीनधारी द्वारा वह इस प्रकार तुच्छरूप से तिरस्कृत होगा ऐसा सिकन्दर ने सपने में भी नहीं सोचा था।”¹⁴

“अतः परिस्थिति के सुधार के लिये हमें क्या करना चाहिये, इस विषय में जो शंकर जी ने कहा है वह बताना अभी बाकी है। यह भारतीय वैदिक समाज अव्यक्त भगवान् का व्यक्त रूप है। यही है वेदपुरुष। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र, चारों ही वैदिक सम्प्रदाय के अन्तर्गत हैं; इसका अर्थ यह है कि यह चारों ही भगवान् के अंग हैं। इसको भंग करने के इच्छुक जो म्लेच्छ या हमारे अपने ही लोग हैं, उनके प्रयत्नों को विफल करना ही भगवान् के प्रति हमारी सेवा है। यह हमारा कर्तव्य है। यह समाज संन्यासियों का अन्न, वस्त्र, आश्रय आदि देकर पोषण करता है। अतः हम समाज के ऋणी हैं। अगर शान्ति का समय हो तो हम उनको वेदान्त सुनाकर इस ऋण से मुक्त हो सकते हैं। अशान्ति के समय इसका अवसर नहीं मिलता। इस समय हम अशान्त वातावरण में जी रहे हैं। इस समय हमें धर्म की रक्षा करनी है। जब देश के ऊपर शत्रुराजा अपनी सेना के साथ आक्रमण करते हैं तब हम राजाओं का मार्गदर्शन करके परोक्ष रीति से समाज के ऋण से मुक्त हो सकते हैं। इसके सिवा हम और कुछ भी नहीं कर सकते। लेकिन धर्माचरण के लिये लोगों में उत्साह पैदा करने का कार्य जब कभी भी किया जा सकता है; इस समय तो यही करना है। ऐसा करते समय समग्र समाज हमारी दृष्टि में होना चाहिये, कोई भी छूटना नहीं चाहिये। समाज में भिन्न-भिन्न संस्कार वाले लोग होते हैं। विष्णुभक्त, शिवभक्त इत्यादि। उनमें से किसी की भी श्रद्धा घटानी नहीं चाहिये, बल्कि बढ़ानी चाहिये। किन्तु उनमें जिस

प्रकार परस्पर असहिष्णुता न पनपे उस प्रकार विष्णु, शिव आदि सब एक ही परमात्मा के विविध रूप हैं, इसके समर्थन में यह वेदवाक्य कहकर, 'सब्रह्म सशिवस्सहरिस्सेन्द्रस्सोऽक्षरः परमस्वराट्', उन्हें सर्वदा समझाना चाहिये कि इसमें प्रमाण वेद ही है। इसीलिये, शंकर जी ने देश के विभिन्न भागों में प्रधान रूप से पूजित विष्णु, सूर्य, शक्ति, शिव, गणपति और कुमार की उनके-उनके सम्प्रदायानुसार पूजा करते रहने के लिये कहा और 'षण्मतस्थापनाचार्य' के रूप में प्रसिद्ध हुये। ये सब एक ही परमात्मा हैं, लोगों को यह बोद्ध कराने के लिये पंचायतन पूजाक्रम की पद्धति को व्यवहारपथ पर स्थापित किया। शंकराचार्य जी का यह सन्देश भारत के प्रत्येक व्यक्ति तक पहुँचना चाहिये।"

"अब इसके बाद इस सन्देश को पहुँचाने में जो ध्यान देने योग्य बातें हैं, उनको कहता हूँ। लोगों के अलग-अलग संस्कार होते हैं। ये संस्कार पिछले जन्मों के कर्म और प्रस्तुत जन्म के परिवेश पर आधारित होते हैं। इसलिये यद्यपि जो सन्देश पहुँचाना है वह एक ही होने पर भी, समझाने का क्रम संस्कारानुसार अलग-अलग होता है। भगवान् शंकर की उपदेशशैली हमने देखी है। वे ब्राह्मण विद्वानों के साथ गहन शास्त्रचर्चा करते थे। मुग्धों को वही विचार पुराणों और इतिहासों द्वारा समझाते थे। हमें भी इसी क्रम का अनुसरण करना चाहिये। श्रोताओं की तरह वक्ताओं के भी संस्कार और सामर्थ्य अलग-अलग होते हैं। अतः हमें अपने-अपने संस्कारों के अनुसार जंगलों में, पहाड़ों में, नदीकिनारों में, समुद्रतटों पर, गाँवों में और शहरों में घूम-घूमकर लोगों को धर्म का बोध कराना चाहिये और पूरे देश में वैदिक परम्परा को दृढ़ रूप से स्थापित करने का प्रयत्न करना चाहिये। इसलिये अबसे ऋग्वेदगोवर्धनपीठ जगन्नाथपुरी के परमपूज्य हस्तामलकाचार्य की शिष्यपरम्परा में संन्यासियों का उपनाम वन और अरण्य होगा। यजुर्वेदशारदापीठ शृंगेरी के सुरेश्वराचार्य की शिष्यपरम्परा में सरस्वती, भारती और पुरी, ये उपनाम होंगे। सामवेदकालिकापीठ द्वारका के पद्मपादाचार्य की शिष्यपरम्परा में तीर्थ और आश्रम ये उपनाम होंगे। अथर्ववेदज्योतिपीठ बदरीनाथ के तोटकाचार्य की शिष्यपरम्परा में गिरि, पर्वत, और सागर ये उपनाम होंगे। हम सबको भी, जैसाकि पहले ही कहा गया है, भारत के

विभिन्न प्रदेशों को आपस में बाँटकर यह ईश्वरीय कार्य करना चाहिये। सदैव घूमते रहना और प्रवचन करना हमारा स्वभाव बन जाना चाहिये। हम सबकी इच्छा है आत्मज्ञान की प्राप्ति। इसके लिये इससे बड़ा कोई तप नहीं है। और आप में से जिनको आत्मज्ञान हो चुका है उनको भी यह कार्य करते रहना चाहिये, इसके लिये हमारे सामने शंकर जी का आदर्श है। इस प्रकार हम सबके लिये भगवान् शंकर ही आदर्श हैं। उनके दिखाये मार्ग पर ही हम लोग जाएँ। वे जैसे निरन्तर बिना विश्राम के घूमते रहे वैसे ही हम भी संचार करते रहें। हमें जो कार्य करना है उसके लिये शंकर जी का मार्गदर्शन भी है और अनुग्रह भी। फिर हमें क्या चिन्ता! सत्यमेव जयते!", यह कहकर उन्होंने अपना भाषण समाप्त किया।

तत्पश्चात् उपस्थित संन्यासियों ने एककण्ठ से इस शान्तिमंत्र का जप किया, "आब्रह्मन् ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायताम् अस्मिन् राष्ट्रे राजन्य इषव्यः शूरो महारथो जायतां दोग्ध्री धेनुर्वोढानवड्वा नाशुस्सपतिः पुरन्धिर्योषा जिष्णू रथेष्ठास्सभेयो युवास्य यजमानस्य वीरो जायतां निकामे निकामे नः पर्जन्यो वर्षतु फलिन्यो न ओषधयः पच्यन्तां योगक्षेमो नः कल्पताम्"।

सभा समाप्त हुयी, कार्य शुरू हुआ। सभा बिखरी, समाज संघटित हुआ। वह खण्ड-खण्ड होकर बिखर जायेगा ऐसा सोचने वालों को निराशा हाथ लगी। परन्तु इस फल के लिये शंकर से 12 शताब्दी पूर्व और 12 शताब्दी बाद के अगणित सज्जनों का अथक श्रम और असीम त्याग आवश्यक हुआ। आखिरकार दासता से मुक्ति मिली। अब समाज के सर्वांग अभ्युदय के लिये केवल एक ही चीज बाकी है; इस समय समाज के सभी क्षेत्रों में जो अविवेकी लोग अग्रणीय स्थानों पर कब्जा किये बैठे हैं उनको पीछे करके विवेकियों को आगे लाना। यह कार्य धीरे-धीरे होगा। लेकिन होगा अवश्य। इसमें कोई सन्देह नहीं है।

• • •

1. संघरक्षितः Survey of Buddhism
2. दीर्घनिकाय 17, महासुदस्ससुत्तान्त
3. First Rock Edict : Romilla Thapar: Ashoka and the Decline of the Mauryas, London (1960) – p. 150

4. K.A. Nilakantha Sastry : The age of Nandas and Mauryas – p. 239
5. Vincent Smith : Early History of India – p. 117, 185
6. Pillar Edict of Ashoka
7. Mukherji : Chandragupta and his time (1957) – p. 296
8. H.G.Wells : New and Revised Outline of History (1931) – p. 404
9. W.W.Tam : Greeks in Bactria – p. 175; Nehru : Discovery of India – p. 43; Vincent Smith : Early History of India – p. 299
10. W.W.Tam : Alexander the Great, Vol.II (1950) – p. 53
11. Majumdar, Roy Choudhary, Kali Kumaradatta : Advanced History of India (1950) – p.122
12. Majumdar : Arab Invasion of India – p. 26; AlBiladuri : Ellict History of India Vol. I p. 122; Chachanama : Ellict History of India Vol. I p. 161
13. R.G.Pothan : Syriyan Christians of Kerala (1963) – p. 22, 32-33; J.H.Lord: The Jews in India and the Far East (1907) – p.62-63; Francis day : The Land of the Perumals (1863) – p.234; K.A.Nilakantha Sastry : History of South India (1958) – p.429
14. M'Crindle : Megasthenes – p.124-126